IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

मौर्य काल में प्रमुख व्यवसाय एवं उद्योगः एक अध्ययन

डॉ॰ नरेन्द्र कुमार
म॰ न॰ 1734/27, गली न॰ 2, कल्याण नगर, कुरूक्षेत्र, हरियाणा

मौर्य काल के पूर्व ही देश की अर्थव्यवस्था में लोहे का ज्ञान एवं विस्तार हुआ और कृषि तथा शिल्प में मुख्य रूप से लोहे के उपकरणों का प्रयोग किया जाने लगा। इससे तकनीकी विकास तथा उद्योग के प्रत्येक पक्ष में तेजी के साथ वृद्धि भी हुई। मौर्य काल में आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकार के व्यापार की प्रधानता थी। आन्तरिक व्यापार से अभिप्राय है, देश की सीमाओं के अन्दर विभिन्न गावों नगरों या प्रान्तों में किये जाने वाले व्यापार से है। आन्तरिक व्यापार मूलतः देश के आन्तरिक भागों में स्थल मार्ग और नदी मार्ग के माध्यम से होता था। आन्तरिक व्यापार मुख्यतः तीन प्रकार से किया जाता था – फेरी लगाकर, फुटकर व्यापार और थोक व्यापार। फेरी लगाने वाले व्यापारी बहुत छोटे व्यापारी होते थे। उनके पास बिकी के लिये सामान बहुत कम होता था, जिसको लेकर वे नगर के विभिन्न भागों में घूमा करते थे। जातकों में प्रायः फेरी लगाने वाले व्यापारियों के बहुत से वर्णन मिलते हैं। एक जातक में गधे की पीठ पर माल लाद कर फेरी लगाने वाले एक व्यापारी का उल्लेख मिलता है।[1] कभी–कभी फेरी वाले व्यापारी आपस में समझौता कर लेते थे कि नगर के किस भाग में कौन फेरी लगायेगा।[2] इस प्रकार आपस में ऐसे समझौते के फलस्वरूप उनमें आपस में किसी प्रकार की प्रतियोगिता नहीं रह जाती थी।

फुटकर व्यापारियों की दुकानें एक स्थान पर स्थित होती थी। वे थोक विक्रेता से सामान खरीदकर अपना व्यापार करते थे। अर्थशास्त्र में फुटकर विक्रेता को 'वैय्यावृत्यकार' और उनके द्वारा किये जाने वाले व्यापार को 'वैय्यावृत्य विक्रय' कहा गया है।[3] थोक के विक्रेता बड व्यापारी होते थे। वे राजकीय क्षेत्र से या देश–देशान्तर से पण्य एकत्रित करके व्यापार करते थे। अर्थशास्त्र में थोक विक्रेता को 'विक्रीण' तथा कहीं–कहीं पर उसे 'वैदेहक' भी कहा गया है। कौटिल्य के अनुसार, 'पण्य' उस माल को कहा जाता था, जो बाजार में बिक्री के लिये लाया जाता था। व्यापार पर राज्य के नियंत्रण के लिये एक अधिकारी नियुक्त किया जाता था, जिसे पण्याध्यक्ष कहते थे, जो विभिन्न वस्तुओं का मूल्य निर्धारित करता था तथा उनकी मांग और पूर्ति के आधार पर उनके व्यापार का निर्धारण करता था।[4]

विभिन्न क्षेत्रों की विशिष्टताएं :

मौर्य काल में प्रायः दैनिक प्रयोग में आने वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में प्रत्येक ग्राम या नगर स्वावलम्बी था, उसे दूसरे क्षेत्रों पर आश्रित नहीं रहना पड़ता था परन्तु भारत के कुछ विशेष क्षेत्र अपने विशेष उत्पादों, शिल्पों, उद्योग–धन्धों, धातुओं और रत्नों आदि के लिये बहुत विख्यात थे, जिनकी देश–विदेश में बहुत अधिक मांग रहती थी। व्यापारी इन भिन्न–भिन्न व्यापारिक वस्तुओं को उनके विशेष उत्पादन क्षेत्रों से आन्तरिक व्यापार के माध्यम से देश के अन्य व्यापारिक नगरों में ले जाकर क्रय–विक्रय करते थे। इस प्रकार से भारत के किसी भी क्षेत्र में इन वस्तुओं का आभाव नहीं होता था।

मौर्य काल में विभिन्न क्षेत्रों की विशिष्ट वस्तुओं से सबसे प्रमुख वस्तु वस्त्र थे। मार्य काल में कुछ विशिष्ट स्थानों के वस्त्र बहुत ही लोकप्रिय थे। मुख्यतः वस्त्र सूती, ऊनी, रेशमी होते थे। सूती वस्त्रों का कार्पासिक कहा जाता था। मौर्य काल में सूती वस्त्रों के प्रमुख केन्द्र काशी (वाराणसी)[5], मदुरा अपरान्त (कोंकण प्रदेश), कलिंग (उड़ीसा), वंग (बंगाल), वत्स (कौशाम्बी) और माहिष्मती थे।[6] बौद्ध ग्रन्थों में शिवि देश में निर्मित सूती वस्त्रों को भी उच्च कोटि का बताया गया है।[7] काशी में निर्मित सूती वस्त्रों को काशिक वस्त्र, काशिकांशु, काशीकुत्रम या काशीय कहते थे।[8] जातक कथाओं में वर्णन मिलता है कि वाराणसी में कुसुम्भी रंग के बहुमूल्य वस्त्र बनते थे। वाराणसी में बना 'वाराणसेय्यकं' नीले रंग का (नीलवण्णं) दोनों ओर से सुन्दर, चिकना तथा बहुमूल्य वस्त्र होता था। वाराणसी में निर्मित साधारण सूती वस्त्र भी बनावट की दृष्टि से इतने अधिक सुन्दर होते थे कि उनका मूल्य अन्य क्षेत्र के सूती वस्त्रों से अधिक होता था।[9] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में भी काशी के सूती वस्त्रों की प्रशंसा की है। कौटिल्य के अनुसार, यहां के सूती वस्त्र इतने सुन्दर होते थे कि इन्हें पहनकर स्त्रियां स्वयं को गौरवान्वित महसूस करती थी। देश के विशेष क्षेत्रों में निर्मित सूती वस्त्र निर्यात की प्रमुख वस्तु थी और उन्हें भरूकच्छ पत्तन से पश्चिमी देशों के लिये निर्यात किया जाता था।[10]

रेशमी वस्त्रों के प्रमुख केन्द्र वंग (पूर्वी बंगाल), पुण्ड्र (उत्तरी बंगाल तथा सुवर्णकुड्य कमरूप, असम) आदि थे। यहां के 'दुकुल' बहुत प्रसिद्ध थे। वंग देश में निर्मित रेशमी वस्त्र, श्वेत, चिकने और महीन होते थे। पुण्ड्र देश के रेशमी वस्त्र 'पौण्ड्रक' कहे जाते थे। ये काले रंग के और मणि के समान चिकने होते थे। सुवर्णकुड्य देश के रेशमी वस्त्र सूर्य की किरणों के रंग के समान (सूटीवर्णम्) और मणि के समान चिकने होते थे। काशी में निर्मित सूती वस्त्रों की भांति रेशमी वस्त्रों को भी कासेट्टाक या 'वाराणसेय्यक' कहते थे। ऊनी वस्त्रों के निर्माण का मुख्य केन्द्र नेपाल था। यहां पर निर्मित

कंबल उस समय बहुत प्रसिद्ध एवं लोकप्रिय थे। उन्हें भिंगिसी और 'अपसारक' कहते थे।[11] इनको आठ टुकडों में जोडकर बनाया जाता था और इन पर वर्षा का भी कोई असर नहीं होता था। सम्भवतः ये आधुनिक बरसाती (वाटर प्रूफ) के समान का वस्त्र होता था।[12]

मौर्य काल में वस्त्रों के अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्र वहां से प्राप्त होने वाली खालों के लिये प्रसिद्ध थे। इनमें हिमालय क्षेत्र के द्वादश ग्राम, आरोह और बाह्लव प्रमुख थे। दादृश ग्राम में उत्पन्न होने वाला चमडा 'बिसी' और 'महाबिसी' कहलाता था। इनमें से बालों वाला तथा चितकबरा 'बिसी' और कठोर तथा प्रायः सफेद रंग का चमडा 'महाबिसी' कहलाता था। इन दोनां चमडों का विस्तार बारह–बारह अंगुल का होता था। आरोह नामक स्थान से श्यामिका, कालिका, कदली, चन्द्रोत्तरा और शाकुला पांच प्रकार का चमडा प्राप्त होता था। वाह्लव प्रदेश से सामूर चीनसी और सामूली नामक तीन प्रकार का चमड़ा प्राप्त होता था। इसी प्रकार से मौर्य काल में ताम्रपर्णी, पाण्डय, केरल इत्यादि क्षेत्र मोतियों के लिये बहुत प्रसिद्ध थे। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में मोतियों के अनेक भेद प्राप्ति स्थानों के आधार पर किये हैं। ताम्रपर्णी या श्रीलंका से प्राप्त होने वाले मोती को 'ताम्रपर्णिक'; पाण्ड्य देश के मलय कोटि प्रदेश से प्राप्त होने वाले मोती को 'पाण्ड्यकवाटक'; पाश का पाशिक्य नदी से निकाले जाने वाले मोती 'पाशिक्य, सिंहल द्वीप की कुला नदी से निकाले जाने वाले मोती को कौलेय, केरल में मुरचि नगर की चुर्णी नदी से निकाले जान वाले मोती को चौर्णेय, महेन्द्र पर्वत की नदी से प्राप्त होने वाले को 'माहेन्द्र', पारसिक देश की कर्दम नदी से निकाले जाने वाले कार्दलिक, स्त्रोतसी नदी से निकाले जाने वाले को 'स्त्रोतसीय' समुद्र तट पर स्थित बर्बर देश की श्रीघण्ट नानक झील से निकाले जाने वाले को 'हादोय' की संज्ञा दी यी है। मोतियों के अतिरिक्त मौर्य काल में मालेयकूट पर्वत से प्राप्त होने वाली मणियां (माणिक्य) सारे भारत में प्रसिद्ध थी। अपने प्राप्ति क्षेत्रों के आधार पर माणिक्य के तीन भेद बतलाये गये हैं – 'कौट' (कोटि पर्वत से प्राप्त होने वाले माणिक्य), मालेयक मलय पर्वत से प्राप्त होने वाले माणिका और पारसमुद्रक (समुद्र पार से प्राप्त होने वाले माणिक्य) कोशल, कश्मीर, विदर्भ और कलिंग प्रदेश मौर्य काल में हीरों के लिये प्रसिद्ध थे। इसी कारण से उस काल में हीरों को अपने प्राप्ति क्षेत्र के नामकरण के आधार पर पहचाना जाता था, जैसेः– सभाराष्ट्रक विदर्भ देश के सभाराष्ट्र विदर्भ देश के सभाराष्ट्र प्रदेश से प्राप्त होने वाले हीरे) मध्यराष्ट्रक (मध्य देश के कोसल जनपद से प्राप्त होने वाले हीरे) 'काश्मकराष्ट्रक' (काशम देश से प्राप्त होने वाले हीरे), 'श्रीकटनक' (कास्तरी राष्ट्र से श्रीकटनक पर्वत से प्राप्त होने वाले हीरे), मणिमंतक (उत्तरापथ पर स्थित मणिमंतक पर्वत से प्राप्त होने वाले हीरे), इन्द्रवानक (कलिंग देश की इन्द्रवानक पहाडो पर पाये जाने वाले हीरे) आदि।[13]

मौर्य काल में सोना–चांदी भी अपने उत्पादन क्षेत्र के नाम के आधार पर पहचानी जाती थी। जाम्बुनद (जम्बू नदी से प्राप्त होने वाला सोना) 'शातकुम्भ' (शतकुम्भ पर्वत से निकाले जाने वाला सोना), 'हाटक' (हाटक नामक सोने की खान से निकलने वाला सोना) 'श्रृंगशुक्तिज' (श्रृंगशुक्ति से प्राप्त होने वाला सोना) आदि। इसी प्रकार चांदी के भी अनेक भेद हुआ करते थे, जैसः– 'तुत्थोद्गत (तुत्था पर्वत से प्राप्त होने वाली चांदी), 'गौड़िक (गौड़ देश में उत्पादित चांदी), चाक्रवालिक (चाक्रवात पर्वत से उत्पादित होने वाली चांदी) आदि।[14] श्वेत, स्निग्ध और मृदुचांदी को श्रेष्ठ समझा जाता था।

मौर्य काल में कुछ विशेष क्षेत्र अपने हाथियों के लिये प्रसिद्ध थे। अर्थशास्त्र में उल्लेख मिलता है कि कलिंग और अंग देश में उत्पन्न हाथी तथा पूर्व में कुरूष देश में उत्पन्न हाथी सभी हाथियों में उत्तम होते थे। दशार्ण तथा पश्चिम (अपरान्त) में उत्पन्न हाथी मध्यम एवं सौराष्ट्र और पञ्चचजन क्षेत्र में उत्पन्न हाथी अधम समझे जाते थे,[15] परन्तु सभी तरह के हाथियों का बल, वेग तथा तेज उचित प्रकार की शिक्षा के द्वारा आवश्यकतानुसार बढाया जा सकता था। कामरूप अर्थात असम चन्दन, अगरू तथा कालेयक जैसी सुगन्धित लकडियों के लिये प्रसिद्ध था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में इन सुगन्धित पदार्थों के विषय में विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है।[16]

विभिन्न क्षेत्रों के प्रमुख उद्योग–धन्धे :

मौर्य काल की अर्थव्यवस्था में शिल्पकारी का महत्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि एक तरफ तो शिल्पकारी कृषि द्वारा उत्पादित कच्चे माल पर आधारित थी तो दूसरी ओर कृषकों की आवश्यकताओं को पूरा करके वह तत्कालीन समाज को आत्मनिर्भर बना रही थी। इसके अतिरिक्त उस समय के उद्योग और व्यापार मुख्य रूप से इन्हीं शिल्प कलाओं और कृषि पर निर्भर थे। मौर्य काल में प्रशासन में सुधार के परिणामस्वरूप व्यापारिक प्रक्रिया आसान हो गयी और दस्तकारी ने धीरे–धीरे उद्योग धन्धों का रूप धारण कर लिया। मैगेस्थनीज के अनुसार, मौर्य कालीन समाज में शिल्पकारों व दस्तकारों का चौथा स्थान था। मैगेस्थनीज ने अपने वर्णन में भारतीय शिल्पियों के विषय में कहा है कि भारतीय कला कौशल में बडे निपुण होते थे।[17] एरियन ने भी भारतीय शिल्पियों का वर्णन करते हुए लिखा है कि अधिकांश शिल्पी और कलाकार राज्य को कर देते थे। अस्त्र–शस्त्र तथा नौका बनाने वाले इसको अपवाद थे, जिन्हें सरकार की ओर से वेतन दिया जाता था।[18] यूनानी लेखकों के अनुसार, पाटलीपुत्र का शासन प्रबन्ध चलाने के लिये 30 सदस्यों की छः समितियों में से पहली समिति औद्योगिक कला की समिति थी, जो उद्योग धन्धों तथा शिल्पकला से सम्बन्धित सभी कार्यों का निरीक्षण करती थी।[19] शिल्पियों का समाज में आदरपूर्ण स्थान था। राज्य की ओर से उन्हें पूर्ण सुरक्षा तथा प्रोत्साहन मिलता था। यही कारण है कि यदि कोई व्यक्ति किसी शिल्पी के ऐसे अंग को हानि पहुंचाता था, जिसके कारण उसके हस्तकौशल में न्यूनता आ जाये तो राज्य की ओर से उस व्यक्ति को मृत्यु दण्ड तक दिया जाता था। मौर्य काल में निम्नलिखित प्रमुख उद्योग–धन्धे थे।

वस्त्र उद्योग :

भारत वर्ष में वस्त्र निर्माण का कार्य अत्यन्त प्राचीन काल से किया जाता रहा है। वस्त्र उद्योग यहां के प्राचीनतम उद्योगों में से एक रहा है। कृषि के पश्चात वस्त्र उद्योग ही एक ऐसा उद्योग था, जो एक बहुत ही विस्तृत क्षेत्र में फैला हुआ था।[20] राज्य की आवश्यकता और व्यापार के लिये राजकीय नियन्त्रण में वस्त्र–उद्योग चलाया जाता था। अर्थशास्त्र में वस्त्र निर्माण से सम्बन्धित नियमों का उल्लेख किया गया है।[21] सूत्राध्यक्ष नामक अधिकारी की अधीनता में वस्त्र उद्योग चलाया जाता था, जिसका मुख्य कार्य कुशल कारीगरों द्वारा वस्त्रों का निर्माण करवाना था। वस्त्र निर्माण के लिये मुख्यतः

ऊन (अर्णा), वल्क (रेशे), कापीस (कपास) तूल (रेशेदार पौधा), शण (सन) और क्षौम (रेशम) का प्रयोग किया जाता था।[22] सूत को बुनने के लिये उन्हें कर्मशालाओं में भेजा जाता था, जहां पर उनसे अनेक प्रकार के वस्त्र बनाये जाते थे।

सूत कातने का काम प्रायः स्त्रियां ही करती थी। इनमें विधवाएं, अंगविकल स्त्रियां जिनका विवाह होना कठिन हो, अपराधिनी (जिन्हें कारावास का दण्ड मिला हो), वृद्धा, राजदासियां, वेश्याओं की वृद्धा माताएं, देवालयों से मुक्त वृद्धा देवदासियां इत्यादि स्त्रियों को इस कार्य में संलग्न किया गया था।[23] स्त्रियों के अतिरिक्त निर्धारित वेतन पर पुरूष शिल्पियों (कारूओं) द्वारा भी सूत कातने का कार्य करवाया जाता था। सूत की बारीकी, मोटापन, चिकनापन और परिमाण के अनुसार ही उनका वेतन निर्धारित किया जाता था। विशेष कार्य करने वाली स्त्रियों को तेल, उबरन आदि देकर पुरस्कृत किया जाता था और कम काम करने पर वेतन भी काट लिया जाता था और जो स्त्री वेतन लेकर काम नहीं करती थी, उसका दण्ड के रूप में अंगूठा तक काट दिये जाने का उल्लेख मिलता है।[24] सूत कातने के लिये चर्खे का प्रयोग किया जाता था। सूत से कपडा बुनने का कार्य जुलाहे किया करते थे। कपास, रेशम, ऊन, रेशे इत्यादि से विभिन्न प्रकार के वस्त्र बनाये जाते थे। इनका वर्णन कौटिल्य ने कार्पासिक, दुकुल, क्षौम, पत्रोर्णा और कोशेय के रूप में किया गया है। मौर्य काल में बंगाल सूती वस्त्र निर्माण का प्रमुख केन्द्र था। मौर्य काल में सूती वस्त्रों के अतिरिक्त रेशमी वस्त्रों का भी निर्माण किया जाता था। मौर्य कालीन एवं परवर्ती साहित्य में रेशमी वस्त्रों के लिये दुकूल, पगोर्णा, कौशेय और चीनपट्ट आदि का उल्लेख मिलता है। विशेष प्रकार के मूल्यवान, महीन, रंगीन और कामदार रेशमी वस्त्रों को दुकूल कहा जाता था। उत्पादित क्षेत्र और रंगों के आधार पर दुकूल खेत (सफेद) श्याम (काला) व सुवर्ण (सुनहरी या लाल) तीन प्रकार का होता था, जो क्रमशः वंग, पुण्ड्र और सुवर्ण कुड्य क्षेत्र में बनाये जाते थे। इन दुकूलों का नामकरण व पहचान उनके उत्पादित क्षेत्र में बनाये जाते थे, जैसेः– वंगक, बंगाल (वंग) में निर्मित दुकूल जो कि बहुत मुलायम चिकना और सफेद रंग का होता था। पौण्ड्रक, पुण्ड्र देश में निर्मित दुकूल वस्त्र मुलायम, मार्ण के समान चिकना और काले रंग का होता था तथा 'सौवर्णकुड्यक' असम के सुवर्णकुड्य क्षेत्र में बनाया जाने वाला दुकूल जो मणि के समान चिकना, मुलायम और सुनहरी रंग का होता था।[25] इन दुकूलों को तीन प्रकार से बनाया जाता था, जैसः– मणिस्नग्धोदकवान अर्थात पहले दुकूल के धागों (तन्तुओं) को जल में भिगोकर फिर उन्हें मणिबन्ध से रगड कर मजबूत बनाकर बुनावट करना। 'चतुश्रवान' अर्थात ताने और बाने में दोनों तरफ से बराबर एक से बारीक तन्तुओं से बुनावट करना 'व्यामिश्रवान्' अर्थात भिन्न–भिन्न प्रकार के तन्तुओं जैसेः– रेशम, कपास, ऊन आदि को मिलाकर या भिन्न–भिन्न प्रकार के रंगों को मिलाकर बुनावट करना। लिनन के साथ सूत या रेशों को मिलाकर बनाये जाने वाले वस्त्रों को क्षौम कहते थे। काशी और पुण्ड्र में क्षौम (लिनन) के वस्त्रों का निर्माण किया जाता था। पुण्ड्र में निर्मित क्षौम के वस्त्रों को सबसे अच्छा माना जाता था।[26] भिन्न–भिन्न वृक्षों के पत्तों पर कीड़ों की लार से बनाये जाने वाले रेशमी वस्त्रों को पत्रोर्णा कहा जाता था। अर्थशास्त्र में उन वृक्षों तथा वृक्षों से प्राप्त रेशों का उल्लेख मिलता है, जिनसे उस काल में पत्रोर्णा बनाई जाती थी। इन वृक्षों में नामवृक्ष, वकुल और वट वृक्ष प्रमुख थे। इन वृक्षों से अलग–अलग रंग के रेशे प्राप्त होते थे। नागवृक्ष से पीले, लिकुच वृक्ष से गेहूंए, वकुल वृक्ष से सफेद और वट वृक्ष से मक्खन के रेशे प्राप्त होते थे, जिनका प्रयोग उत्तम प्रकार के वस्त्रों का निर्माण करने के लिये किया जाता था। अर्थशास्त्र में मगध, पुण्ड्र और सुवर्णकृड्य क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली पत्रोणी का उल्लेख मिलता है। इन क्षेत्रों में से सुवर्णकुड्य क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली पत्रोणी को सर्वोत्तम माना जाता था।[27] पगोर्णा के अतिरिक्त वृक्ष के रेशों से बनाये जाने वाले रेशमी वस्त्रों को कौशेय कहा जाता था। जातकों में भी रेशमी वस्त्रों के रूप में कौशेय का उल्लेख मिलता है। उस समय कौशेय वस्त्रों में सोने का काम भी किया जाता था।[28]

मौर्य काल के सूती और रेशमी वस्त्रों के अतिरिक्त ऊनी वस्त्रों का भी निर्माण भी किया जाता था। जातकों में गांधार के ऊनी वस्त्रों का उल्लेख मिलता है।[29] पाणिनि और कौटिल्य ने अनेक प्रकार के कंबलों का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र में नेपाल के भिंगिसी और अपसारक नामक कंबलों का वर्णन मिलता है, जो बनावट की दृष्टि से इतने उत्कृष्ट होते थे कि उन पर वर्षा का भी कोई असर नहीं होता था।[30] अर्थशास्त्र में रंग बनावट या निर्माण विधि और उपयोग के आधार पर ऊनी कम्बलों की अनेक किस्मों का उल्लेख मिलता है। भेड़ की ऊन से बनाये जाने वाले कम्बल सफेद (ऊन का असली रंग), शुद्ध लाल और कमल की तरह लाल रंग के होते थे।[31] इन कम्बलों को चार प्रकार से बनाया जाता था – खचित (बटी हुई ऊन से बुनकर) बानचित्र (भिन्न–भिन्न रंग की ऊन से बुनकर) खण्ड संघात्य (तरह–तरह की बुनावट की पट्टियों को जोडकर) और तन्तुविच्छिन्न (ताने–बोने से बुनकर या बनने के समय कुछ तन्तुओं को छोडकर जाली की तरह बुना हुआ कपडा)। मौर्य काल में सूती वस्त्रों के सामान ही ऊनी वस्त्रों का उपयोग बहुत अधिक किया जाता था,[32] इसलिये उपयोग के आधार पर ऊनी कंबलों के अनेक प्रकारों का उल्लेख अर्थशास्त्र में मिलता है, जैसेः– कौचपक (ग्वालों द्वारा ओढा जाने वाला मोटा कम्बल), कुलमितिका (सिर पर ओढा जाने वाला कम्बल), सौमितिक (बैलों के ऊपर औढाया जाने वाला कम्बल), वर्णक (रंगा हुआ कंम्बल), तलिच्छक (बिस्तर पर बिछाया जाने वाला कम्बल), बारवाण (कोट के लिए प्रयुक्त होने वाला कम्बल), परिस्तोम (ओढने के लिए बडे आकार विशेष कम्बल) समन्तभदक (हाथी पर डाला जाने वाला कम्बल), और आविक (बारीक ऊन का कम्बल) आदि। भेड की ऊन के अतिरिक्त अन्य पशुओं के बालों को भी विविध प्रकार के ऊनी वस्त्र बनाने के लिये प्रयोग में लाया जाता था। मृग के बालों से बनाये जाने वाले ऊनी वस्त्र कों 'मृगरोम' कहा जाता था। अर्थशास्त्र में इस तरह के छह प्रकार के ऊनी वस्त्रों का उल्लेख मिलता है, जैसेः– सम्पुटिका (जांघिया) चतुरश्रिका (आयताकार ऊनी वस्त्र)।[33] लम्बरा (महीन परदा), कटवानक (मोटा परदा), प्रावरक (परदा) और मतालिका (गलीचा) इत्यादि। रंकू नामक हिरण की ऊन से बनाये जाने वाले वस्त्रों को रंकव कहा जाता था।

वस्त्र उद्योग से सम्बन्धित अन्य कार्य :

मौर्य काल में वस्त्र उद्योग एक विकसित उद्योग के रूप में स्थापित था। इस उद्योग के साथ सम्बन्ध रखने वाले अन्य कई कार्य भी महत्वपूर्ण थे, जो निम्नलिखित हैः–

वस्त्रो की धुलाई :

मौर्य काल मे वस्त्रों की धुलाई का व्यवसाय बहुत ही अच्छी अवस्था में था। कपडे धोने का व्यवसाय करने वाले धोबी को अर्थशास्त्र में 'रजक' कहा गया है। अठ्ठारह श्रेणियों में धोबियों की श्रेणी की भी गणना की गयी है। उत्तम स्तर के वस्त्रों की धुलाई के लिये एक पण, मध्यम प्रकार के वस्त्रों के लिये आधा पण और घटिया प्रकार के वस्त्रों को धुलाई के लिये पण का चौथा हिस्सा धुलाई के लिये दिया जाता था और मोटे वस्त्रों की धुलाई के लिये एक माषक या दो माषक दिये जाते थे।[34]

वस्त्रां की रंगाई :

मौर्य काल में वस्त्रों की धुलाई के साथ–साथ वस्त्रों को रंगनें के कार्य का भी वर्णन मिलता है। धोबी कपडे धोने के साथ–साथ रंगनें का कार्य भी करता था। कपडों की रंगाई का कार्य करने वालें व्यक्ति को 'रक्तक' कहा जाता था।[35] कपडों को रंगने के लिये कृष्ण, नील लोहित, हरिद्र और शुक्ल इत्यादि रंगों का प्रयोग किया जाता था। वस्त्रों को रंगने के लिये मुख्यतः चिकुर (पीत वर्ण का एक गंध–द्रव्य), हरताल, सरसों, किंशुक, जवाकुसुम और बंधुजीवक के पुष्प, हिंगुल (सिंदूर), कुमकुम (केसर), नीलकमल, शिरीष के पुष्प आदि वनस्पतियों से बनाये गये रंगां का प्रयोग किया जाता था। हल्के रंग में रंगने के लिये पाँच दिन, नीले रंग में छः दिन, पुष्प लाक्षा, मंजिष्ठ व गाढा लाल रंगों में रंगने के लिये सात दिन का समय रक्तकों को दिया जाता था, इससे अधिक समय लगने पर उसे धुलाई व रंगाई की कीमत नहीं दी जाती थी।[36] मगस्थनीज ने रंगे हुये वस्त्रों का उल्लेख करते हुये वर्णन किया है कि भारतीय लोग मलमल के फूलदार कपड पहनते है, सिर पर पगडो बाँधते है और चमकीले रंगों में रंगे हुए वस्त्रों का प्रयोग करते है।[37] भारत में वस्त्र रंगने का उद्योग इतना विकसित हो गया था कि इसकी प्रसिद्धि पश्चिमी देशों मे भी हो गयी थी।[38]

वस्त्रों की सिलाई एवं कसीदाकारी :

वस्त्र उद्योग से सम्बन्धित व्यवसायों में वस्त्रों की सिलाई का कार्य भी महत्वपूर्ण था। अर्थशास्त्र में दर्जी को 'तन्तुवाय' कहा गया है। यद्यापि अधोवाग (धोबी) और दुपट्टा आदि बिना सिले कपडो का भी समाज में प्रचलन था।[39] मौर्य काल में वस्त्रों पर कसीदाकारी करने का कार्य भी किया जाता था। काशी में वस्त्रों पर कसीदाकारी का कार्य करने के उल्लेख मिलते है।[40] मैगेस्थनीज ने भारतीय वस्त्रों पर कसीदकारी का वर्णन किया है। उनके अनुसार, भारतवासी सोने की जडो वाले वस्त्र धारण करते था और इन कपडों पर कभी–कभी रत्नों का काम भी किया जाता था।[41]

रस्सी बनाना :

अर्थशास्त्र में कपडा बनाने वालों के साथ रस्सी बनाने वाले तथा कवच बनाने वालों का भी उल्लेख मिलता है, जो सूत्राध्यक्ष के नियन्त्रण में भी कार्य करते थे। रस्सिया मुख्य रूप से सूत, सन, बेंत, और बांस के रेशों से बनायी जाती थी। सूत और सन के रेशों से बनी रस्सी को 'रज्जु' और बेंत, बांस से बनी रस्सी को 'वस्त्र' कहते थे, जिनमें भारवाहक पशुओं को बांधा जाता था।[42]

धातु उद्योग :

मौर्य काल में एक अन्य महत्वपूर्ण उद्योग था – धातुखनन और धातु कर्म। ये कार्य राजसत्ता, कृषि, व्यापार और उद्योग को बल प्रदान करता था। मौर्य काल में धातु उद्योग एक विकसित उद्योग के रूप में विद्यमान था, जिससे धातुओं के रूप से परिवर्तित करने, धातुओं के अस्त्र–शस्त्र, उपकरण और आभूषण इत्यादि बनाये जाते थे। अर्थशास्त्र, मैगेस्थनीज एवं अन्य यूनानी लेखकों के विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि उस समय भारतीयों को खनिज पदार्थों और खनिज विद्या का पूर्ण रूप से ज्ञान था। मैगस्थनीज ने लिखा है कि ''भारत की भूमि अपनी सतह पर कृषि द्वारा उत्पन्न होने वाली सम्पूर्ण उपजां, फल, फूल और अन्य कृषिजन्य पदाथां का उत्पदान करती है, परन्तु उसके गर्भ में सब प्रकार की धातुओं की खाने है। भूमि के गर्भ में सोना–चांदी, तांबा व लोहा भरा पडा है। जस्ता और अन्य धातुयें जो अनेक प्रकार की आवश्यक वस्तुओं जैसे आभूषण और युद्ध के लिये अस्त्र–शस्त्र आदि बनाने में काम आती है, ये सब धातुयें पर्याप्त मात्रा में है।[43]

कौटिल्य ने खनिज भण्डारों के महत्व का उल्लेख करते हुये कहा है कि 'कोश का आधार खान (आकार) है, कोश के उन्नत होने पर ही शक्ति प्राप्त की जा सकती है और खानों से भूषित पृथ्वी को कोष और दण्ड के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। धातु उद्योग के अधिकारी को 'आकाराध्यक्ष' कहा जाता था, उसे विभिन्न प्रकार की धातुओं की खानों और धातु–शास्त्र का ज्ञान होता था। उसके अधीन खन्याध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, लोहाध्यक्ष, लवणाध्यक्ष आदि अनेक अधिकारी कार्य करते थे। आकाराध्यक्ष के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति के लिये यह आवश्यक था कि उसे धातुकर्म सहित खनन के तकनीकी पहलुओं की पूर्ण रूप से जानकारी होनी चाहिये। उसका कार्य विभिन्न लक्षणों पर नयी खानों का पता लगाना और ऐसी खानों को खोजना भी था, जो अभी व्यवहार में नहीं आई है। इसके अतिरिक्त उसके अधीन ऐसे कर्मकर भी होने चाहिये, जो धातु सम्बन्धी कार्य करने में पूर्ण खानों से धातु निकालने के लिये आवश्यक है। धातु उद्योग से सम्बन्धित अनेक नियमों का उल्लेख अर्थशास्त्र में किया गया है। पहाडों, गुफाआं, तराइयां, पथरील स्थानों तथा बडो–बडो शिलाओं से ढके हुये छेदों से नाना प्रकार के द्रव्य बहकर बाहर निकलते है। उनकी जांच करने पर यह भली–भांति जाना जा सकता है कि वहां पर किस धातु की खान होने की सम्भावना है। रंग, भार, गंध, चमक और स्वाद आदि की परीक्षा के द्वारा कच्ची धातु की पहचान की जा सकती है। अर्थशास्त्र में बताया है कि यदि पहाड को गुफाओं, तराइयों और छिपे छेदों से बहने वाले द्रव्य का रंग जामुन, आम, ताडफल, तकी हल्दी, हरताल, शहद, कमल और मोर तथा तोतों के पंखों के रंगों के समान हो और वह पारदर्शक, भारो तथा चिकना हो तो उस द्रव्य को देखकर यह समझना चाहिये कि वहां पर निश्चय ही सोने की कच्ची धातु की खान विद्यमान है।[44] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सोना, चांदी, तांबा, सीसा, टिन, लोहा, कांसा, हरताल, नमक

और मणि आदि के विशेष गुणों के साथ ही कच्ची धातुआं और धातु शिलाओं को गलाकर शुद्ध करने के उपायों का वर्णन भी मिलता है।[45]

साहित्यिक स्त्रोतों में संकेत मिलते है कि मौर्य काल में खानों से सोना, चांदी, तांबा, सीसा, टिन निकाले जाते थे परन्तु ताम्र और सोने के खनन को छोडकर अन्य धातुओं के विषय में बहुत कम पुरातात्विक साक्ष्य मिलते है।[46] इससे पता चलता है कि सम्भवः चन्द्रगुप्त मौर्य के समय से ही छोटा नागपुर मे स्थित धालभूम में ताम्र व सोने की खानों से खनन का कार्य हो रहा था। मौर्यो की राजधानी पाटलीपुत्र के समीप ही वर्तमान सिन्धभूम और हजारोबाग जिलों में तांबें की खाने थी, कम से कम राजभवन में काम आने वाले कुछ ताम्रपात्र सम्भवतः यहीं से पहुंचाये जाते थे।[47] अधिक खर्चीली खानों का उत्खनन राज्य तथा निजी व्यक्तियों द्वारा पूँजी लगाकर किया जाता था और कम खर्चीली खानों के उत्खनन का प्रबन्ध राज्य की ओर से किया जाता था।[48] खनन और धातु उत्पादों के व्यापार पर राज्य का एकाधिकार था। यह आय का ही स्रोत नहीं था अपितु केन्द्रीय सत्ता को सुदृढ बनाने में भी बहुत सहायक था, क्योंकि केवल राज्य ही अपने सैनिकों को धातु के बने अस्त्र–शस्त्र से सुसज्जित कर सकता था तथा कृषि और उद्योग के लिये अपेक्षित उपकरण तथा औजार जुटा सकता था।[49]

लौह उद्योग :

मौर्यों की साम्राज्यवादी विस्तारवादी नीति ने लौह उद्योग के विकास में पर्याप्त योगदान दिया। कौटिल्य ने लौह–उद्योग के नियंत्रण के लिये लोहाध्यक्ष का उल्लेख किया है, जो आकराध्यक्ष के अधीन सबसे महत्वपूर्ण अधिकारी होता था। यह ताम्र, सीसा, त्रपु (टिन) आदि धातुओं के कारखानों का संचालन करता था। लोहे का उपयोग मुख्यतः अस्त्र–शस्त्र, कृषि और उद्योगों के उपकरणों के निर्माण के लिये किया जाता था। कृषि उपकरणों का निर्माण मुख्यतः लुहारों पर ही निर्भर होना था। अर्थशास्त्र में लुहार को 'लोहकास' कहा गया है, जो कृषि उपकरणों (जैसेः– हल, कुदाल, फावडा, कुल्हाडो इत्यादि) और अस्त्र–शस्त्र बनाने का कार्य करता था।[50] मगस्थनीज ने भी अपने वर्णन में लुहारों का उल्लेख किया है कि वे कृषकों के लिये उपकरण, सैनिकों के लिये अस्त्र–शस्त्र और नागरिकों के लिये दैनिक प्रयोग की वस्तुओं का निर्माण करते थे।[51] जातकों से भी यह स्पष्ट होता है कि लुहार किसानों, मालियों, बढईयों के लिये उपकरण बनाने के साथ–साथ युद्ध के लिये अस्त्र–शस्त्र, कवच भी बनाते थे।[52] मौर्य काल में लुहारों को राज्य की आर से आर्थिक सहायता भी दी जाती थी। यदि कोई व्यक्ति उनकी आंख या हाथ को हानि पहुंचाता था तो उसे प्राण दण्ड तक दिया जाता था। स्ट्रैबो ने लोहे के तीर बनाने वालों का अलग से वर्णन किया है। उन्होंने लिखा है कि वे राज्य को कर नहीं देते थे।[53] वे केवल राज्य के लिये ही कार्य कर सकते थे और उसके बदले में राज्य से वेतन प्राप्त करते थे।[54] मौर्य काल में लौह उद्योग उन्नत अवस्था में था। इसके अनेक पुरातात्विक प्रमाण भी प्राप्त होते है। दक्षिण बिहार की पूरी लौह पटि्टका में विभिन्न स्थलों से धातु मलों के बहुत ढेर प्राप्त हुए हैं। ये तत्कालीन लौह–प्रगालकों द्वारा अवशिष्ट धातुमल रहा होगा।[55] तक्षशिला भीर टीले के निचले स्तरों से लौहे की वस्तुओं में वसूला, चाकू और खुरचनी प्राप्त हुई है।[56]

ताम्र एवं कांस्य उद्योग :

मौर्य काल में ताम्र एवं कांस्य उद्योग भी एक अलग उद्योग के रूप मे विकसित हुआ, जो लौहाध्यक्ष नामक अधिकारी के नियन्त्रण में ही फलफूल रहा था। अर्थशास्त्र में ताम्र तथा इसके मिश्रण कांस्य का उल्लेख हुआ है। ताम्र और कांस्य का प्रयोग मुख्य रूप में आभूषणों, उपकरणों, बर्तनों, मूर्तियों और सिक्कों के निर्माण के लिये किया जाता था।[57] पुरातात्विक अवशेषों से भी मौर्य कालीन ताम्र और कांस्य उद्योग की विकसित अवस्था का ज्ञान प्राप्त होता है। हस्तिनापुर में मौर्य कालीन अम्जन शालायें व नखकर्तनी तथा तक्षशिला में भी टीले से तांबे तथा पीतल की बनी वस्तुओं के अवशेष मिलते है।[58] उत्तर बिहार के रामपुरवा के अशोक स्तम्भ में तांबे की एक ठोस कील लगी है, जिसके द्वारा विशाल सिंह शीर्षक को स्तम्भ के ऊपर जोडा गया था। यह मौर्य कालीन तांबे की कारीगरी का एक उत्तम उदाहरण है।[59] विद्वानों का मत है कि इसे दाब कर बनाया गया था और पीटकर ठीक आकार में लाया गया था।[60]

विविध आभूषण :

मौर्य काल में भी आभूषण बनाने का उद्योग महत्वपूर्ण रहा था। विभिन्न प्रकार के रत्न, हीरे, मोती, मूंगा, आदि का उपयोग मुख्यतः आभूषण बनाने के लिये किया जाता था। सोना, चांदी, तांबा, कांस्य और हाथी दांत इत्यादि का उपयोग भी आभूषणों को बनाने में होता था। सोना–चांदी को शुद्ध करके आभूषण बनाये जाते थे। इसके लिये राज्य की ओर से एक अलग विभाग स्थापित किया गया था, जिसके अध्यक्ष को सुवर्णाध्यक्ष कहा जाता था। इस अधिकारी की अधीनता में ही राजकीय कार्यशालाओं में सोने और चांदी के आभूषण बनाये जाते थे। यद्यपि सोने–चांदी के आभूषण बनाने पर पूर्णतः राजकीय नियन्त्रण था, परन्तु राज्य से अनुमति प्राप्त करके लोग व्यक्तिगत रूप से भी यह कार्य करते थे। उस समय समाज में स्त्री–पुरुष अनेक प्रकार में सोन–चांदी के आभूषण पहनते थे। नगर एवं ग्रामवासियों के लिये आभूषण बनवाने का काय राजस्वर्णकार (सौवर्णिक) द्वारा करवाया जाता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में सोने–चांदी के अनेक प्रकार, सोने–चांदी के अयस्कों को शुद्ध करने की विधियों तथा स्वर्णकार द्वारा आभूषण बनाने के लिये मुख्य कियायें क्षेपण, गुण और क्षुद्र थी।[61] सोने म मणि आदि जवाहरातों को जडनें की किया को क्षेपण, सोने के बारीक सूत्र या तार बनाने की किया को गुण और साधारण रूप से आभूषण बनाने को क्षुद्र कहते थे। राजकीय अक्षशाला, जहां पर आभूषणों का निर्माण किया जाता था, वहां पर कठोर राजकीय नियन्त्रण होता था। किसी भी अनजाने व्यक्ति को अक्षशाला के अन्दर जाने नहीं दिया जाता था। अक्षशाला से बाहर निकलते समय सभी कर्मचारियों की तलाशी भी ली जाती थी और उन्हें अपने साथ कोई भी उपकरण बाहर लेकर आने की अनुमति नहीं थी।[62] आकराध्यक्ष की अधीनता में समुद्र से शंख, मोती, मूंगा आदि को निकालने का कार्य खन्दाध्यक्ष नामक अधिकारी करता था।[63] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में मोती, मणि, हीरे, प्रवाल (मूंगा), लाल नीलम, बैदूर्य, स्फटिक आदि के रंगों और गुणों का उल्लेख किया है। मोती, मणि और हीरे, आदि से विभिन्न प्रकार के आभूषण बनाने और हीरे व मणि को तराशकर निश्चित आकार प्रदान करने वाले व्यक्ति को 'मणिकारू' कहा जाता था। अर्थशास्त्र में अनेक

प्रकार भी मुक्ता–पोष्टियो (मोतो की मालाओं) का वर्णन मिलता है, जैसेः– शीर्षक (जिसमें दो छोटे मोतियों के बीच में एक बडा मोती हो) उपशीर्षक' (ऐसी माला जिसके अध्य पांच बडे मोती हो) 'प्रकाण्डक' (जिसमें चार मोतियों के बाद एक बडा मोती हो और उसके दोनों ओर उत्तरोत्तर, छोटे–छोटे मोती हो) 'अवघाटक' (जिसके सब मोती एक समान आकार के हो) 'तरल–प्रतिबन्ध' (ऐसी माला जिसके मध्य में एक अत्यन्त चमकीला मोती लगाया गया हो)। लडियो के अनुसार, भी मोती की पोस्टियों के अनेक प्रकार थे, जैसेः– इन्द्रच्छद (एक हजार आठ लडियों की माला) विजयच्छंद (पांच सौ लडियों की माला) देवच्छंद (सौ लडियों की माला) अर्द्धहार (चौसठ लडियों की माला) आदि। एक लडो वाली मोती की माला को 'सूत्र' कहा जाता था, लेकिन यदि उसके बीच में मणि पिरो ही जाती थी तो उसें 'यष्टि' कहा जाता था। मणियों की जुगई के कार्य को 'काचकर्म' कहा जाता था।[64]

हाथीदांत से आभूषण बनाये जाने का शिल्प भी उस समय बहुत महत्वपूर्ण था। जातकों के अनुसार, वाराणसी, हाथीदांत की बनी वस्तुओं का प्रमुख केन्द्र था और वहां पर इन वस्तुओं के लिये एक विशेष बाजार था।[65] एरियन महोदय ने लिखा है कि भारतीय कानों में हाथोदांत की बालियां पहना करते थे, परन्तु ऐसा वे लोग ही करते थे, जो धनिक होते थे।[66]

विभिन्न पुरातात्विक प्रमाणों से मौर्य कालीन आभूषणों का ज्ञान प्राप्त होता है। हस्तिनापुर व तक्षशिला के भीर टीले के उत्खनन से कई प्रकार के आभूषणों के प्रमाण प्राप्त होते है। तक्षशिला से प्राप्त आभूषण के सम्भवतः पांचवीं शताब्दी ई॰ पू॰ के मध्य के है, कांसे के सांचों में बनाये गये प्रतीत होते है।[67] पिपरहवा स्तूप की गर्भमजुंषा और उसमें रखे हुये रत्नपुरूष कला को दृष्टि से बहुत महत्वपूर्ण है, जो मौर्य कालीन स्वर्ण उद्योग की उन्नत अवस्था था।[68] स्ट्रैबो न वर्णन किया है, जिसमें राजकीय भृत्य सोने व कीमती रत्नों से जडित बहुत सी वस्तुयें लेकर चलते थे।[69]

बर्तन उद्योग :

मौर्य कालीन विभिन्न स्थानों से बहुत अधिक मात्रा में मिट्टी के बर्तन और उनके टुकडे प्राप्त हुये है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दो प्रकार के पात्रों का उल्लेख किया है– विदलमय और मृतिकामय।[70] विदलमय, जो पात्र बांस की खेपच्च या इसी प्रकार की दूसरी लडकियों से बनाये जाते थे, जैसेः– पिटारी, टोकरी, आदि तथा मृत्तिकामय वो होते थे, जो पात्र मिट्टी से बनाये जाते थे, जैसेः– घड, कसोरे आदि। मौर्य काल में निर्मित मिट्टी के उत्तरी काले मृद्भाण्ड तत्कालीन बर्तन–उद्योग की विकसित अवस्था को दर्शाते है। इन बर्तनों का प्रयोग मुख्यतः समाज में उच्च वर्ग के लोगों द्वारा ही किया जाता था।[71] उत्तरी काले ओपदार मृद्भाण्ड पिसी हुई मिट्टी से बनाये जाते थे। इनकी विशेष चमक और कांति के आधार पर ही उसे अन्य काले ओपदार या लेप वाले भाण्डों से अलग किया जा सकता है।[72]

चमडा उद्योग :

भारत में प्राचीन काल से ही चमडे का काम करने की कला का स्थान महत्वपूर्ण रहा है। चमडे से वस्तुओं को बनाने वाले व्यक्ति को चर्मकार कहा जाता था। मौर्य उद्योग की श्रेष्ठता का प्रमाण हमें इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि कौटिल्य ने चर्मो (खालों) की गिनती रत्नों के साथ की है और इनका उल्लेख मणि, मुक्ता आदि बहुमूल्य पदार्थो के साथ किया है। कोषाध्यक्ष नामक पदाधिकारी कीमती रत्न, कुष्प आदि के साथ चर्मो को भी कोषागार में एकत्रित करता था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार के चर्मो का उनके उत्पत्ति–स्थान, रंग तथा आकार के अनुसार विस्तारपूर्वक वर्णन किया है, जैसेः– कान्तनावक (इस खाल का रंग मोर की गर्दन के सदृश होता था) प्रैयक (इस खाल पर नीले, खेत, पीले रंग के बिन्दु होते थे), बिसी (इस चर्म पर बडे–बडे बाल होते थे और इसका कोई विशेष रंग नहीं होता था), महाबिसी (यह श्वेत रंग की सख्त खाल होती थी), श्यामिका (यह कठोर और खुरदरा चर्म होता था), चन्द्रोतरा (इस खाल पर चाँद की तरह के निशान होते थे) शाकुला (इस खाल पर मृग की खाल के समान चकत्ते होते थे), सामूर (इस खाल का रंग काला होता था), चीनसी (यह लाल–काले रंग की या पाण्डु काले रंग की होती थी), सामूली (इस गेंहूये रंग की चर्म होती थी), सातिना (काले रंग की खाल), नलतूला (इस चर्म का रंग नल घास के समान होता था), कपिला (कपिल रंग का चर्म) और वृत्तपुच्छा (भूरे रंग की एक विशेष प्रकार खाल) इत्यादि।[73] इन विविध प्रकार की खालों के सम्बन्ध में कुछ विवरण भी अर्थशास्त्र में मिलते है। कान्तनावक और प्रैयक खालों की चौडाई आठ अंगुल होती थी। बिसी और महाविसी की चौडाई 12 अंगुल होती थी। श्यामिका और कालिका चौडाई में आठ अंगुल, कदली लम्बाई में एक हाथ, चन्द्रोतर लम्बार्द में आठ अंगुल और सामूर लम्बाई में 36 अंगुल होती थी। ये सब खाल जंगली जन्तुओं की होती थी, सम्भवतः जिनका शिकार उनकी कीमती खालों के लिये ही किया जाता था। इनमें से बहुत–सी खाले हिमालय या उसकी तराई के जंगलों से प्राप्त की जाती थी। विसी और महाविसी खालें द्वादश ग्राम में उपलब्ध थी, श्यामिका कालिका, कदली, चन्द्रोतर और शाकुला को 'आरोह' से प्राप्त किया जाता था और सामूर, चीनसी तथा मामूली को बाह्लल से प्राप्त किया जाता था। ये द्वादश ग्राम, आरोह और वाह्लीव हिमालय के क्षेत्र में ही स्थित थे।[74] अर्थशास्त्र के इस विवरण द्वारा इस बात में कोई सन्देह नहीं रह जाता कि मौर्य युग में अनेक प्रकार की खालों को एकत्र करने का व्यवसाय बहुत उन्नत था। इन बहुमूल्य चर्मो के अतिरिक्त गाय, भैंस, बैल, भेड, बकरी आदि पशुओं का चमडा भी प्रयोग में लाया जाता था, जिनमें जूते एवं अन्य अनेक प्रकार की उपयोगी वस्तुयं बनाई जाती थी। पाणिनी ने नध्री या नाड (वह वस्मा जिससे बैलों को जुए से बांधते थे) तथा बर्ध या वद्धी (चमडे का रस्सा) आदि अनेक प्रकार की चमडे की बनाई हुई वस्तुओं का उल्लेख किया है।[75] पशु खाल की बनी मशक जिसे 'भस्गा' कहा जाता था, इसका प्रयोग नदी पार करने के लिये किया जाता था।[76] जातकों में चमडे के बने जैकेट, बडे बोरे, रस्सा पट्टा और छतरी आदि वस्तुओं का वर्णन मिलता है। एक जातक में सर्दी से बचने के लिये चमड से निर्मित वस्त्र का प्रयोग किये जाने का वर्णन किया गया है।[77] इसके अतिरिक्त चमड का प्रयोग वाद्य–यन्त्रों के निर्माण में किया जाता था। एरियन ने भारतीय लोगों द्वारा पहने जाने वाले सफेद रंग के जूतों का उल्लेख किया है। एरियन ने लिखा है कि भारतीय सफेद रंग के चमड के जूते पहनते थे। इनके तले रंग–बिरंगे होते थे। इन जूतों की एडियाँ इतनी ऊँची बनाई जाती थी कि इनको पहनने वाला कुछ ऊँचा दिखाई पडे।[78] मौर्य काल में चमडे पर कर लिया जाता था। चमड पर उसके

मूल्य का 1/20 से 1/25 तक चुंगी कर लगता था। मौर्य काल में चमडा और चमड से निर्मित वस्तुओं को देश के आन्तरिक प्रदेशों के अतिरिक्त विदेशों में भी भेजा जाता था। सिन्धु नदी पर स्थित 'बर्बरिकम' बन्दरगाह से भारतीय चमडा विदेशो में भेजे जाने का वर्णन परवर्ती ग्रन्थ पेरिप्लस में किया गया है।[79] इसमें सन्देह नहीं है कि मौर्य काल में चर्म उद्योग एक उन्नत और विकसित उद्योग के रूप में विद्यमान था।

सुरा उद्योग (शराब का उद्योग) :

मौर्य काल में सुरा निर्माण का उद्योग विकसित अवस्था में था। सुरा का उद्योग सुराध्यक्ष के अधीन था, जो शराब बनवाने और बिक्री की व्यवस्था कराता था। इसके लिये सुरा निर्माण में दक्ष व्यक्तियों के राजकीय सेवा में रखा जाता था। शराब की बिक्री का प्रबन्ध नगरों, देहातों और छावनियों में सर्वत्र किया जाता था। इस उद्योग पर राज्य का पूर्ण अधिकार था। विभिन्न प्रकार की मदिरा, उनकी निर्माण–विधि तथा इसके पीने व बेचने के स्थान सम्बन्धी अनेक प्रकार के नियमों का उल्लेख अर्थशास्त्र में किया गया है। अर्थशास्त्र में छः प्रकार की सुरा का वर्णन किया गया है, जैसेः– मेदक, प्रसन्न, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु। अर्थशास्त्र में सुरा निर्माण में प्रयोग किये जाने वाली वस्तुओं एवं उनकी निर्माण–विधि का भी वर्णन किया गया है। इन मदिराओं में से कुछ मदिरा ऐसी भी होती थी, जो कि स्वास्थ्य के लिये हानिकारक नहीं मानी जाती थी, इन्हें औषधीय मदिरा कहा जाता था। इन्हें चिकित्सकों द्वारा प्रमाणित (चिकित्सक प्रमाण) औषधी के रूप में प्रयोग किया जाता था। अर्थशास्त्र में आसव, अरिस्ट और मधु मदिरा को 'औषधीय–मदिरा कहा गया है।[80] जातकों में मदिरा, मधुशालाओं और भट्टी घरों का उल्लेख किया गया है, जिससे हमें सुरा निर्माण के विषय में जानकारी मिलती है। इनमें लोगों द्वारा समारोहों और उत्सवों में सुरा पीने का उल्लेख किया गया है।[81] मैगस्थनीज ने उल्लेख किया है कि भारत के लोग यज्ञों के अलावा कभी मदिरा नहीं पीते, उनका पेय जौं के स्थान पर चावल द्वारा निर्मित एक रस था,[82] किन्तु अन्य यूनानी लेखकों ने खजूर और ताड में निर्मित मदिरा का भी वर्णन किया है। यद्यपि सुरा–निर्माण पर राज्य का एकाधिकार था, परन्तु कुछ लोग सुराध्यक्ष से स्वीकृति लेकर अपनी स्वंय की मदिरा बनाकर पीते सकते थे अथवा उसको बेच सकते थे। अर्थशास्त्र में बताया गया है कि विशेष कृत्यों के अवसर पर गृहस्थ लोग श्वेत सुरा का तथा औषधी प्रयोजन से अरिष्टों का निर्माण स्वयं कर सकते थे। इसी प्रकार विशेष उत्सव, सामाजिक समारोह, धार्मिक–उत्सव और यात्रा आदि के अवसर पर चार दिन तक सभी को सुरा–निर्माण की स्वतन्त्रता थी। यद्यपि इस समय भी सीमा का उल्लंघन करने वालों को दण्ड दिया जाता था।[83] पंतजलि ने भी महाभाष्य में शराब बनाने का उल्लेख किया है कि प्रसन्ना, गुड से बनी हुई तेल के वर्ण जैसी पीली सुरा थी। इसके अतिरिक्त उन्होंने अंगूर से बनी कापिशासन मधु नामक सुरा का भी उल्लेख किया है, जो उनके काल में भी बहुत प्रसिद्ध थी।[84]

काष्ठ उद्योग :

मौर्य काल में काष्ठ–शिल्प विकसित उद्योग के रूप में स्थापित हो गया था। इसे सामान्यतः इमारतों के अतिरिक्त नगर प्राचीरों, दुर्गों, प्रसादों, मन्दिर–निर्माण, पोत, रथ, बैलगाड़ी आदि बनाने तथा अन्य बहुविध कार्यों में प्रयोग में लाया जाता था। इसी महत्व को दृष्टि में रखते हुये मौर्य काल में वनों की सुरक्षा और उपज की देखभाल करने के लिये कुप्याध्यक्ष अधिकारी की नियुक्ति की जाती थी। उसके अधीन द्रव्यपाल और वनपाल आदि अन्य राजकर्मचारी होते थे, जिनकी सहायता से वह जंगलों से कुप्य पदार्थों को एकत्र करता था और साथ ही काष्ठ आदि कुप्य पदार्थों को तैयार भाण्ड के रूप में परिवर्तित कराने के लिये कर्मान्तों (कारखानों) का संचालन करता था। विपत्ति के अतिरिक्त यदि साधारण अवस्था में कोई व्यक्ति जंगल को किसी प्रकार का नुकसान पहुँचाता था तो उसे न केवल क्षतिपूर्ति करनी पडती थी। वरन साथ ही उसे जुमाने क रूप में दण्ड भी दिया जाता था।[85] अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार के उन वृक्षों का वर्णन किया गया है, जो काष्ठ उद्योग की दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण थे और जिनका उपयोग इमारतों के निर्माण में ही किया जाता था। वृक्षों में शाक (सामौन), तिनिश धन्वन, अर्जुन, मधूक, तिलक, साल, शिंशुप, अरिभेद, रानादन, शिरीसः खदिर (खैर) सरल, तालसर्ज, अश्वकर्ण, सोमबल्क, कशाम्र, प्रियक, धव, सरदार आदि।[86] इनके अतिरिक्त अनेक प्रकार के बाँसों, बल्लियों (लताआं), बल्को (रेशेदार वृक्षों और पौधों), रज्जुभाण्डों (भूँज, भावड आदि ऐसी घास जिनसे जन्तुओं के चमडे, हड्डी, दाँत, सींग, खुर, पूँछ आदि फूस, सरकण्डे, इंधन और कोयले आदि भी कुप्य थे, क्योंकि ये सब उपयोगी द्रव्य भी जंगलों से ही प्राप्त किये जाते थे।[87] इन विविध प्रकार के वृक्षों को काटना और फिर उन्हें विविध प्रयोगों में लाने का व्यवसाय बहुत उन्नत दशा में था। लकडहरे, बढई एवं अन्य अनेक शिल्पी इन कार्यों में लगे रहते थे।

पाणिनी के अनुसार, समाज में तक्ष अर्थात् बढई का महत्वपूर्ण स्थान था। कुछ तक्ष ऐसे होते थे, जो दूसरे के घरों में जाकर काम करते थे, उन्हें ग्रम तक्ष कहा जाता था और कुछ अपनी कार्यशाला में ही स्वतन्त्र रूप से कार्य करते थे, उन्हें 'कोटन्तक्ष' कहा जाता था।[88] पंतजलि के अनुसार, गांव में बर्तन बनाने वाले (कुम्हार) और बढ़ई सहित शिल्पियों के कम से कम पांच समूह होने चाहिये।[89] पंतजलि ने बढ़ईयों के एक समूह का वर्णन किया है, जिन्हें राज्य की तरफ से सहयोग प्रदान किया जाता था और ये शिल्पी केवल राज्य के आदेश पर ही कार्य करते थे।[90]

अर्थशास्त्र में काष्ठनिर्मित अनेक प्रकार के रथ और नौकाओं का वर्णन किया जाता था, जिसकी प्रमाणिकता पुरातात्विक उत्खननों के द्वारा सिद्ध होती है। पटना के पास कुमहार के उत्खनन से काष्ठ निर्मित भवन के साक्ष्य प्राप्त हुये है। इससे मौर्य युगीन काष्ठ–उद्योग की उन्नत अवस्था का पता चलता है।[91] मैगस्थनीज ने पाटलीपुत्र नगर का वर्णन करते हुए लिखा है कि पाटलीपुत्र नगर के चारों ओर लकडो की एक दीवार बनी हुई थी, जिसमें धनुधारियों द्वारा तीर चलाने के लिये छिद्र बने हुये थे।[92] अर्थशास्त्र में भी काष्ठनिर्मित भवनों का वर्णन मिलता है। अर्थशास्त्र के अनुसार, जो नगर अधिकतर लकडो के बने होते थे, वहाँ पबन्धकों को आग से बचाव के लिये विशेष रूप में ध्यान रखना पडता था, क्योंकि उस समय आग राष्ट्रीय विपत्तियों में सर्वप्रथम होती थी।[93] एरियन ने भी मौर्य काल में काष्ठ से निर्मित भवनों का वर्णन किया है। उसके अनुसार, नदियों में किनारे या समुद्रतट पर स्थित सभी नगरों का निर्माण ईंटों कर अपेक्षा लकडो के द्वारा किया गया था।[94] खुदाई से यह भी पता चलता है कि बाढ और विदेशी हमले से बचाव के लिये लकडो के लट्ठों का महत्वपूर्ण सुरक्षा

पंक्ति के रूप में प्रयोग किया जाता था।[95] पाटलीपुत्र नगर की खुदाई के दौरान पुरातत्ववेता डी॰ स्पूनर, सम्राट अशोक के दुर्ग–प्राचीर और राजप्रसाद के शहतीरों को दो सहस्त्राब्दी से अधिक समय बाद भी वैसा ही चिकना, चमकदार और अक्षत पाकर दंग रह गये थे।[96] अर्थशास्त्र में भी दुर्ग निवेश के सम्बन्ध में काष्ठ उद्योग के विषय में लिखा है कि अन्तःपुर के दक्षिण दिशा में कारखाने के निरीक्षक का निवास होना चाहिये, जिससे वह अपने काष्ठ उद्योग के कारखाने का सुविधापूर्वक निरीक्षण कर सके।[97] इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट होता है कि मौर्य काल में काष्ठ उद्योग भी बहुत उन्नत और विकसित उद्योग था।

नमक उद्योग :

मौर्य युग में नमक की गणना खनिज पदार्थों में की जाती थी। नमक बनाने के लिये राज्य से अनुमति लेनी होती थी। अनुमति प्राप्त करके जो व्यक्ति नमक का कार्य करते थे, वे पाकमुक्त (तैयार हुये शुद्ध) नमक का निर्धारित लवण भाग और प्रकय (नमक के कर्मान्त का किराया) लवणाध्यक्ष को प्रदान करते थे। इस प्रकार लवणाध्यक्ष के पास संग्रहीत के बिना नमक का कय–विकय करना निषिद्ध था। विदेशों से जो नमक बिकने के लिये आता था, उस पर भी अनेक कर लिये जाते थे। बिना अनुमति के नमक बनाने या बेचने पर दण्ड दिया जाता था। वे अपने उपयोग के लिये नमक बना सकते थे।[98] क्षेत्रिय (धर्मग्रन्थों के अध्ययन में लगे रहने वाले लोगो) तपास्वियों और नमक बनाने वाले कारखानों में काम करने वाले मजदूरों को खाने के लिये मुफ्त नमक मिलता था।[99]

नौका–निर्माण उद्योग :

मौर्य काल में स्थल मार्गों के साथ–साथ जल मार्गों के माध्यम से भी व्यापार किया जाता था, जिसके लिये अनेक प्रकार के छोटे–बड जहाज व नौकायें प्रयोग में लाई जाती थी। मौर्य काल में नौका–निर्माण उद्योग एक नियमित और विकसित उद्योग था। नौका–निर्माण में मुख्यतः लकडो का प्रयोग किया जाता था और वह काष्ठ–शिल्प में सबसे महत्वपूर्ण व्यवसाय था। मैगेस्थनीज ने मौर्य कालीन नौका–निर्माण उद्योग का वर्णन करते हुये लिखा है कि इस उद्योग पर राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था। इन शिल्पियों को किसी अन्य व्यक्ति के लिये काम करने की आज्ञा नहीं थी।[100] राजकीय क्षेत्र में निर्मित इन जहाजों का उल्लेख करते हुये स्ट्रैबो ने लिखा है कि राजा की ओर से इन जहाजों को समुद्री–यात्रियों और व्यापारियों को किराये पर दिया जाता था।[101]

मौर्य काल में नौका–निर्माण उद्योग की विकसित अवस्था का ज्ञान इससे भी लगाया जा सकता है कि चन्द्रगुप्त मौर्य की सेना में तीस सदस्यों की छः समितियों में से एक समिति नौसेना समिति भी थी।[102] अर्थशास्त्र में भी कौटिल्य ने अनेक प्रकार के जहाजों का वर्णन किया है, जो उस समय नावाध्यक्ष नामक अधिकारी नियुक्त किया जाता था। मौर्य कालीन नावाध्यक्ष आधुनिक बन्दरगाहायुक्त के समान होता था। वह नौका संचालन से सबंधित कर एकत्र करता था और नियम बनाता था तथा उसके पास समुद्र में चलने वाले जहाजों और झीलों तथा नदियों के मुहाने पर चलने वाली नौकाओं का रिकार्ड होता था।[103] बौद्ध सहित्य में भो छोटे और बड अनेक प्रकार के जहाजों का वर्णन मिलता है। जातक कथाओं में समुद्री यात्राओं के जो विवरण मिलते है उनमें अधिकांशतः उन जहाजों के ही वर्णन है, जो व्यापारियों द्वारा माल ढोने के काम में प्रयोग में लाये जाते थ। जातकों में समुद्री जहाजों अथवा बडो नौकाओं के विविध उपकरणों का भी वर्णन किया गया है। प्रायः ये जहाज लकडो के तख्तों (दारू–फलकानि) के बनाये जाते थे, जिसके कारण ये अनुकूल वायु में सुगमता से चलते थे।[104] जहाजों की संरचना एवं उनके उपकरण के संदर्भ में ज्ञात होता है कि बाहरी पंजर के अतिरिक्त उनमें तीन मस्तूल (कूप), रस्सियां (योतम) पाल (सितटा) तख्ते (पटराणि) ढांड पतवार तथा लंगर होते थे। पाणिनी ने भी नावां का उल्लेख किया है।[105] परवर्ती काल में पंतजलि ने राजनौ का वर्णन किया है। नौकायें राज्य की ओर से घाट को पार करने के लिये चलायी जाती थी।[106] भारत से लौटते समय सिकन्दर के नौ–सेनापति नियाकिस के दो हजार नावों का जहाजी बेडा भारत के शिल्पियों ने ही तैयार किया था।[107] यद्यपि भारत मे नौका निर्माण का कार्य प्राचीन काल से ही किया जा रहा था, परन्तु मौर्य युग तक आते आते यह एक सुविकसित उद्योग के रूप मे स्थापित हो गया था।

अस्त्र–शस्त्र निर्माण उद्योग :

आदि काल से ही मानव ने अपनी सुरक्षा और समृद्धि के लिये अस्त्र–शस्त्रों का निर्माण करना आरम्भ कर दिया था। मौर्य युग तक आते–आते यह एक विकसित उद्योग के रूप में स्थापित हो गया था। अस्त्र–शस्त्रों के निर्माण के लिये भी राजकीय उद्योग शालाएं स्थापित की थी। इसके लिये एक पृथक अमात्य होता था, जिसे आयुधागराध्यक्ष कहते थे। अस्त्र–शस्त्रों के निर्माण में कुशल कारू–शिल्पियों से सांग्रामिक (युद्ध में काम आने वाले), दौर्मकर्मिक (किलों की रक्षा के लिये प्रयुक्त होने वाले) और परपुराभिघातिक (शत्रुओं के नगरों को आकान्त व नष्ट करने के लिये उपयोगी) चक, यन्त्र, आयुध, कवच और अन्य उपकरणों को तैयार कराता था। अर्थशास्त्र में अनेक प्रकार क अस्त्र–शस्त्रों का वर्णन किया गया है।[108] मैगस्थनीज ने लिखा है कि शस्त्रों और जहाजों का निर्माण करने वाले शिल्पियों को राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था और उन्हें अन्य किसी व्यक्ति के लिये काम करने की आज्ञा नहीं थी।[109] एरियन ने लिखा है कि पदाति सैनिक धनुष–बाण भालों और तलवारों का प्रयोग करते थे और प्रत्येक अश्वारोही सैनिक के पास दो बल्लमे होती थी।[110] हस्तिनापुर की खुदाई से घरेलू सामान के साथ–साथ सैनिकों के काम में आने वाले अस्त्र–शस्त्र भी प्राप्त हुये है। शस्त्रों में कंटीले व कूपदार लोहे की नोक वाले तीर मिले है।[111] इससे स्पष्ट होता है कि मौर्य काल में अस्त्र–शस्त्र निर्माण उद्योग आवश्यक एवं उन्नत उद्योग था।

अन्य उद्योग :

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में बहुत से अन्य व्यवसायियों का उल्लेख किया है, जिनमें देवताकारू (देवताओ की मूर्तियां बनाने वाले) मणिकारक (मणियों से आभूषण बनाने वाले) माल्यपव्य (मालायें बनाकर बेचने वाले), गन्धपव्य (सुगन्धियां बनाकर बेचने वाले) और भिषक आदि मुख्य है। ये सब उद्योग भी मौर्य काल में उन्नत दशा में थे।[112] अर्थशास्त्र में वार्णित गन्धिक, गंधपदार्थ के प्रकार, प्राप्ति स्थल तथा बनाने की विधियों का वर्णन है। इसके साथ ही यहाँ गंधिक व्यवसायियों के निवास–स्थान की व्यवस्था एवं नगर जीवन में सुगन्धित पदाथों के विविध उपयोगों का भी उल्लेख है। कौटिल्य ने तेल, पुष्प, हार आदि व्यवसायियों की दुकानों का निर्माण पूर्व दिशा में करने का निर्देश दिया है।[113] इसी प्रकार से कोषाध्यक्ष को विविध प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों को कोष में रखने का निर्देश भी कौटिल्य ने दिया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि मौर्य काल में गंधिक का व्यवसाय एक उन्नत व्यवसाय था।

यूनानी लेखकों ने इक्षु–शर्करा उद्योग का वर्णन करते हुये लिखा है कि भारत में नरकुल का एक पौधा होता है, जो बिना मधुमक्खियें के शहद देता है।[114] मैगस्थनीज ने गन्ने के विषय मे भी वर्णन किया है कि गन्ने के द्वारा ग्रहण किया गया पानी सूरज की गर्मी से तप्त होता है, जिसमें पौधा लम्बवत उठता है आर उसमें मिठास आती है।[115] अर्थशास्त्र में गन्ने से निर्मित गुड का वर्णन किया गया है। गुड का प्रयोग मैरेय नामक सुरा के निर्माण मे किया जाता था।[116]

मौर्य काल में सिक्कों के निर्माण करने का उद्योग भी बहुत उन्नत अवस्था में था, जिसका संचालन लक्षणाध्यक्ष नामक अधिकारी करता था। वह सोना, चांदी, तांबे आदि धातुओं से सिक्कों का निर्माण करवाता था। मूर्ति निर्माण करने का व्यवसाय भी महत्वपूर्ण था।[117] इस प्रकार से स्पष्ट होता है कि मौर्य काल में विभिन्न उद्योग स्थापित थे।

व्यापारिक सामग्री व विभिन्न केन्द्रों में व्यापारिक सम्बन्ध :

मौर्य साम्राज्य बहुत ही विस्तृत था, यहां पर विभिन्न उद्योगों में विभिन्न प्रकार की विशिष्ट वस्तुओं का उत्पादन किया जाता था। इन वस्तुओं का आदान–प्रदान देश के विभिन्न क्षेत्रों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर किया जाता था। सामान्यतः लोग अपने कृषि–उत्पादों के बदले में अपने उपयोग के लिये दूसरी वस्तुयें खरीद लेते थे। व्यापारी वर्ग, जो उत्पादक तथा उपभोक्ता के मध्य बिचौलिये का काम करता था, देश के विभिन्न भागां में ये वस्तुयें बिक्री के लिये ले जाता था। मौर्य काल में मुख्यतः मसाले, गन्ध, द्रव्य औषधियां, जडो–बूटियाँ, मोती व अन्य बहुमूल्य रत्न जैसेः– हीरा, मूंगा, हाथीदाँत, सोना, चाँदी, ताम्र, टिन, क्षौम, घोड, हाथी आदि प्रमुख व्यापारिक वस्तुयें थी, जिनका उस समय देश के आन्तरिक भागों मे व्यापार किया जाता था। अर्थशास्त्र में काष्ठ (विविध प्रकार की सारदारू), लौह, मणि रज्जू, चर्म, मिट्टी के बर्तन, सूती, ऊनी और रेशमी वस्त्र, धान्य (विविध प्रकार का अन्ब), स्नेह (घी, तेल), क्षार (शर्करा) आदि प्रमुख व्यापारिक वस्तुओं का भी उल्लेख मिलता है, जिसका मौर्य युग में आन्तरिक व्यापार किया जाता था।[118]

रीज डेविड ने तत्कालीन व्यापारिक सामग्री का उल्लेख करते हुये लिखा है कि रेशम, मलमल, जरी कसीदाकारी, गलीचा, उत्तम प्रकार के वस्त्र, उपकरण (छूरी आदि) कवच, ग्रन्ध–द्रव्य, औषधियां, हाथो दाँत की बनी वस्तुयें, सोना और आभूषण आदि प्रमुख व्यापारिक वस्तुयें थी। इन वस्तुओं को व्यापारी नदियों और सडकों के माध्यम से देश के विभिन्न भागों में बिक्री के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाते थे।[119] जातकों से भी फल, जडो–बूटियाँ, गन्ना, शहद, मलहम, विभिन्न प्रकार की लकडो आदि का उल्लेख मिलता है, जो व्यापारी बिक्री के लिये प्रदेशों में लेकर जाते थे। पाणिनी ने भी तत्कालीन व्यापारिक सामग्री का उल्लेख किया है, जिनमें अनेक प्रकार की वस्तुएँ शामिल थी, जैसेः– लवण (नमक), गन्ध–द्रव्य (केशर, नगर ,गुगल, उशीर द्लालु) रेशमी, सूती वस्त्र, ऊनी वस्त्र, कम्बल, चमडे की वस्तुएँ (थैले व जूते) रंग (लाक्ष व नील), लोहे की वस्तुएँ (श्रृंखला, दाग, हल, छुरा), खाद्य–पदार्थ, मदिरा, नाप तौल, पशु (बैल, घोडे), शकर, रथ और नाव आदि।[120]

मौर्य काल में विभिन्न वस्तुओं के एक–स्थान से दूसरे स्थान पर व्यापार करने के अनेक वर्णन मिलते है। प्रायः व्यापारियों के नाम उन्हीं क्षेत्रों के नाम पड जाते थे, जिन क्षेत्रों के साथ वे लोग व्यापार करते थे, जैसेः– मद्रवाणिज (मद्र देश के साथ व्यापार करने वाला) गान्धार वणिज, (गाधार देश के साथ व्यापार करने वाला व्यापारी) कश्मीर वणिज (कश्मीर देश के साथ व्यापार करने वाला व्यापारी)[121] भिन्न–भिन्न वस्तुओं को बेचने के लिये अलग–अलग बाजार लगते थे। अर्थशास्त्र में जिस आदर्शनगर का चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसमें मांस, चावल, रोटी, मिठाई आदि भोज्य पदार्थों की दुकानों के लिये अलग व्यवस्था की गयी है।

निष्कष :

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से पता चलता है कि मौर्य काल में आन्तरिक व्यापार बहुत ही उन्नत अवस्था में था। मौर्य शासकों ने देश में एकता और शान्ति की स्थापना की, जिसके परिणामस्वरूप विभिन्न प्रकार के शिल्प–उद्योगों को प्रोत्साहन मिला और व्यापार की बहुत उन्नति हुई। राज्य की ओर से व्यापारियों और व्यापारिक मार्गों को सुरक्षा प्रदान की गयी, जिसके कारण से आन्तरिक व्यापार तथा वाणिज्य में वृद्धि हुई और इसी के परिणामवरूप विदेशी व्यापार को बढावा मिला।

संदर्भिका

1. N. Bose, Social and Rural Economy of Northern India, p. 2-3
2. जातक 1.3
3. अर्थशास्त्र प्रकरण 6.4
4. वही, 6.4
5. R. B. Pande, Studies in History of Kashi: Economic Life, p. 19-20
6. अर्थशास्त्र 2.11
7. अंगुत्तरनिकाय 1.248, विनयपिटक 1.278–280
8. उमा पाण्डेय, वाराणसी, पृ॰ 61
9. मोतीचन्द्र, काशी का इतिहास, पृ॰ 61
10. G. M. Bogard Lewin, Mauryan India, p. 129
11. अर्थशास्त्र 2.11
12. भगवती प्रसाद पाथरी, मौर्य साम्राज्य का संस्कृति इतिहास, पृ॰ 178
13. अर्थशास्त्र 2.11
14. वही, 2.13
15. वही, 2.2
16. वही, 2.11
17. मगस्थनीज का भारत वर्षीय वर्णन, पृ॰ 3
18. इण्डिका 1.2
19. J. W. McCrindle, Ancient India Age described by Megasthenes and Arian, Calcutta,1926, p. 30
20. पुरुषोत्तम लाल भार्गव, चन्द्रगुप्त मौर्य, पृ॰ 92
21. अर्थशास्त्र, 2.23
22. आचार्य दीप शंकर, कौटिल्य कालीन भारत, पृ॰ 51–52
23. Annnapurna Chattopadhayaya, Some Craft of Ancient Bengal (Taxtile), ref. B. Chattopadhayaya (ed.) Ages in Ancient Indian Economic History, p. 130
24. अष्टाध्यायी, 4.3.143
25. अर्थशास्त्र, 2.11
26. Annnapurna Chattopadhayaya, Some Craft of Ancient Bengal (Taxtile), ref. B. Chattopadhayaya (ed.) Ages in Ancient Indian Economic History, p. 132
27. अर्थशास्त्र 2.11
28. जातक, 4.01, 6.501
29. वही, 6.500
30. पाणिनी 3.3.54, 4.2.11
31. अर्थशास्त्र 2.11
32. Lalan Ji Gopal, Taxtile in India, J.E.S.H.O., Part - 4, No. 1.196
33. अर्थशास्त्र 2.11
34. वही, 4.1
35. वही, 4.1
36. J. W. McCrindle, Ancient India Age described by Megasthenes and Arian, Calcutta,1926, p. 69
37. J. Erwin, Indian Taxtile in Historical Perspective, p. 25-26
38. अर्थशास्त्र 4.1
39. मोती चन्द्र, प्राचीन भारतीय वेशभूषा, पृ॰ 31
40. स्ट्रैबो, 1.5,1.69
41. नीलकंठ शास्त्री, नंद–मौर्य युगीन भारत, पृ॰ 300
42. J. W. McCrindle, Ancient India Age described by Megasthenes and Arian, Calcutta,1926, p. 86
43. Ibid, p. 31
44. अर्थशास्त्र 2.11
45. वही, 2.12
46. J.R.A.S.V. IIIrd Series, p. 101

47. आचार्य दीपशंकर, कौटिल्य कालीन भारत, पृ॰ 52–53
48. R. S. Sharma, Perspective in Social and Economic History of Early India, p. 131
49. अर्थशास्त्र 2.12
50. मैगस्थनीज का भारत वर्षीय वर्णन, पृ॰ 49
51. जातक, 2.281
52. स्ट्रैबो, 1.46
53. डायोडोरस 2.41
54. J.R.A.S.V. IIIrd Series, p. 79
55. John Marshal, Taxila, Part-1, p. 104 – 07
56. स्ट्रैबा, 1.69
57. G. M. Bonguard Lewin, Mauryan India, p. 118-19
58. A.S.I. Report 16, p. 113
59. अर्थशास्त्र 2.13
60. वही, 2.14
61. वही, 2.13
62. वही 2.4
63. वही 2.11
64. जातक 1.351, 1.479, 1.116, 4.60, 6.117–120, 6.279
65. J. W. McCrindle, Ancient India Age described by Megasthenes and Arian, Calcutta,1926, p. 219-20
66. John Marshal, Taxila, Part-1, p. 617
67. स्ट्रैबो, 15.1.69
68. अर्थशास्त्र, 2.17
69. रोमिला थापर, अशोक तथा मौर्य साम्राज्य का पतन, पृ॰ 82
70. वही, पृ॰ 268
71. स्ट्रैबो, 1.5, 1.69
72. J. W. McCrindle, Ancient India Age described by Megasthenes and Arian, Calcutta,1926, p. 73
73. नीलकण्ठ शास्त्री, नन्द–मौर्य युगीन भारत, पृ॰ 304
74. पाणिनी, अष्टाध्यायी, 3.2, 1.82, 5.1.15
75. L. N. Swami, Boats and Ships in Indian Arts, p. 173
76. जातक, 2.153, 3.79.116, 6.431
77. J. W. McCrindle, Ancient India Age described by Megasthenes and Arian, Calcutta,1926, p. 220
78. W. H. Shauf, Periplus of the Erithirian Sea, p. 396
79. अर्थशास्त्र 2.25
80. वही, 2.25
81. जातक, 1.47, 81, 127, 2.289, 5.289, 5.5.12, 5.1.54.3
82. मैगस्थनीज का भारत वर्षीय वर्णन, पृ॰ 33
83. अर्थशास्त्र 2.25
84. महाभाष्य 5.3.67, 5.4.4, 4.299
85. अर्थशास्त्र 2.17
86. वही, 2.17
87. वही, 2.17
88. जातक 2.18, 4.207, 5.159, 6.426, 2.156
89. वही, 5.46
90. महाभाष्य 2.2.1
91. Annual Report A.S.I. 1912-13, p.53
92. E. J. Repson, Cambridge History of India, Part-1, p. 369
93. अर्थशास्त्र 2.36
94. J. W. McCrindle, Ancient India Age described by Megasthenes and Arian, Calcutta,1926, p. 67
95. R. S. Sharma, Perspective in Social and Economic History of Early India, p. 134

96. D. Spooner, Excavation at Patliputra, ASI Delhi, 1912-13
97. अर्थशास्त्र 2.4
98. वही, 2.12
99. वही, 2.4
100. V. A. Smith, Early History of India, p. 55
101. आनाबसिस 6.15
102. स्ट्रैबो, 5.1.46
103. V. A. Smith, Early History of India, p.124
104. अर्थशास्त्र 2.28
105. जातक, 2.111, 2.239, 112
106. मोतीचन्द्र, सार्थवाह, पृ॰ 62
107. पाणिनी, अष्टाध्यायी 5.4.95
108. महाभाष्य 5.4.99
109. राधाकुमुद मुखर्जी, चन्द्रगुप्त मौर्य और उसका काल, पृ॰ 72
110. अर्थशास्त्र, 2.181
111. J. W. McCrindle, Ancient India Age described by Megasthenes and Arian Calcutta,1926, p. 85
112. Erian, Indica, 1-6
113. Ancient India, 1954, p.16
114. स्ट्रैबो 1-5, 1.37
115. अर्थशास्त्र 2.4
116. J. W. McCrindle, Ancient India Age described by Megasthenes and Arian, Calcutta,1926, p. 69
117. Ibid, p. 120
118. अर्थशास्त्र 2.25
119. वही, 2.12
120. वही, 2.4
121. Riz Dewid, Buddhist India, p. 100